लौहित्य साहित्य सेतु: सहयोगी विद्वानों द्वारा पुनरीक्षित द्विभाषिक ई-पत्रिका
वर्ष: 3, संख्या: 4; जनवरी-जून, 2022

डॉ. नारायण चंद्र तालुकदार का साक्षात्कार

साक्षात्कार ग्रहण : डॉ. संजीव मण्डल

डॉ. नारायण चंद्र तालुकदार असम के विशिष्ट हिन्दी-सेवी हैं। वे कॉटन विश्वविद्यालय के विभागाध्यक्ष रहे हैं। यह साक्षात्कार डॉ. संजीव मण्डल द्वारा लिया गया है।

डॉ. संजीव मण्डल : *आप हिंदी के प्रति कैसे आकर्षित हुए?*

डॉ. नारायण चंद्र तालुकदार : हिंदी के प्रति आकर्षित होना मेरे लिए अस्वाभाविक घटना नहीं थी। मेरे माता-पिता दोनों हिंदी सेवी थे। मेरी माँ स्व. उमारानी तालुकदार बरमा गर्ल्स हाईस्कूल में हिंदी पढ़ाती थी। मेरे पिता बरमा हाईस्कूल में असमीया पढ़ाया करते थे। मेरे पिता स्व. महेंद्र तालुकदार स्वतंत्रता सेनानी थे। गरीब किसान का बेटा गांधी भक्त थे। हिंदी सीखना और सीखाना मेरे माता-पिता का लक्ष्य था। मेरे पिताजी ने बरमा में राष्ट्रभाषा विद्यालय की स्थापना की थी। उन्होंने वर्धा जाकर 'कोविद' की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की थी। मेरी माँ चाहती थी कि मैं हिंदी में एम.ए. पास कर सिर्फ कॉटन कॉलेज का अध्यापक बनूं। पर किन्हीं कारणों से मैंने इतिहास में 'आनर्स' लेने का निर्णय लिया था। मेरी माँ असंतुष्ट हो गयी और मेरे मना करने पर भी उन्होंने मुझे इतिहास के स्थान पर हिंदी में 'आनर्स' लेने का आदेश दे दिया।

डॉ. संजीव मण्डल : *आपके शैक्षिक जीवन के विविध चरणों के बारे में हमें बताइए।*

डॉ. नारायण चंद्र तालुकदार : मैंने बरमा में ही प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त की। 'बरमा बालक निम्न बुनियादी विद्यालय' के बाद मैंने 'बरमा हाईस्कूल' से सन् 1972 में मैट्रिक की परीक्षा पास की। कॉटन कॉलेज से 'प्राक्-विश्वविद्यालय' तथा हिन्दी में स्नातक (आनर्स) की उपाधि ली थी। सन् 1979 में दिल्ली विश्वविद्यालय से एम.ए. पास किया। जोरहाट के जे.बी. कॉलेज तथा कॉटन कॉलेज में सुदीर्घ तैंतीस साल काम करने के बाद सहकर्मी डॉ. छाया भट्टाचार्य के साथ विचार विमर्श कर निर्णय लिया कि हमें पीएच.डी. कर लेनी चाहिए। दोनों ने एक दूसरे को उत्साहित किया और लगभग एक ही समय दोनों ने डिग्रियाँ भी प्राप्त कर लीं।

डॉ. संजीव मण्डल : *भाग्य और कर्म को लेकर आपके क्या विचार हैं?*

डॉ. नारायण चंद्र तालुकदार : मेरी दृष्टि में भाग्य कर्म फल ही होता है। मनुष्य के पास केवल कर्म करने का ही अधिकार होता है-जैसा कि गीता में कहा गया है- 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'। मनुष्य कर्म द्वारा सब कुछ बदल सकता

है- 'क्रीसस तथा सोलन' की कथा इसका उदाहरण है । शायर ने भी सही फरमाया है कि- 'हाथ के लकीरों पे मर मिटता क्यों यारब! / नसीब उनके भी होते हैं, जिनके हाथ नहीं होते' । मैं अव्वल दर्जे का आलसी हूँ, अत: अच्छे फल की प्राप्ति मुझे क्यों और कैसे हो सकती है भला!

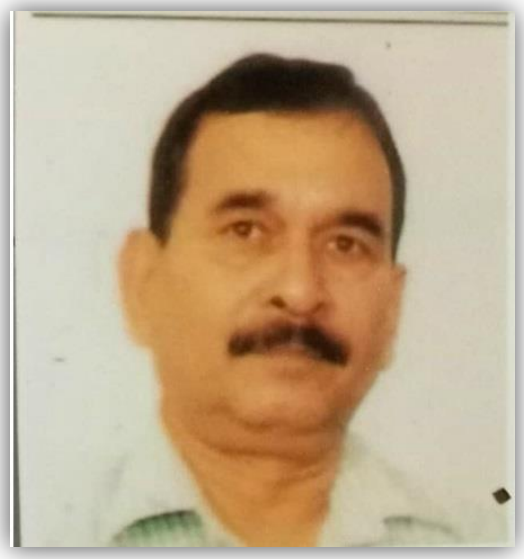

डॉ. संजीव मण्डल : *आप भगवान में विश्वास नहीं रखते। आपके सभी छात्र और जानने वाले इस बात से परिचित हैं। आपके नास्तिक होने के कारण हम जानना चाहेंगे।*

डॉ. नारायण चंद्र तालुकदार : यह सही है कि मैं भगवान को नहीं मानता। काल्पनिक बातों पर कैसे विश्वास किया जा सकता है? आत्मा, परमात्मा, प्रेतात्मा, माया, भूत, डायन आदि का कोई अस्तित्व नहीं है । भगवान का निर्माण मनुष्य ने किया है । आदि मानव पहाड़, बज्रपात, हाथी, बाघ आदि की शक्ति को देख उनकी पूजा (?) किया करते थे । मछली, कछुवा, सुअर आदि पर भी अवतारवाद आरोपित किए गए थे। कालक्रम से इन्हीं विश्वासों ने भगवान का जन्म दिया । भय (विशेषकर मृत्यु) से बचने के लिए ही मानव अपने आप को अदृश्य शक्ति (?) के समक्ष आत्मसमर्पण कर देता है । अत: अपने स्वार्थ के लिए ही मनुष्य ने भगवान को जन्म दिया। जो (भगवान) होता नहीं है वह निर्माण कैसे कर सकता है?

परम सत्य तो यह है कि जिसका जन्म होता है वह मृत्यु का परवाना भी लेकर आता है । मृत्यु से बचने का कोई उपाय नहीं है- इसीलिए सहज आत्मसमर्पण के सिवाय कोई अन्य उपाय भी तो नहीं। अत: अपने आप को सांत्वना देने के लिए 'शरीर की मृत्यु हो जाती है- आत्मा की नहीं', आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म, वैकुण्ठ, स्वर्ग जैसी धारणाओं का जन्म दिया गया है । 'आत्मा' और 'शरीर' को अलग अलग मानने लगते हैं । (यही कारण है कि) मूल बाल्मीकि रामायण का सामान्य मनुष्य 'राम' परवर्ती काल में विष्णु का अवतार बन जाता है।

किसी काल्पनिक बात पर विश्वास न करने का मतलब यह नहीं है कि भगवान को माननेवाले लोगों के प्रति मेरे मन में किसी प्रकार की दुर्भावनाएँ हैं । प्राचीन भारतीय साहित्य का अध्ययन मैं विशेष मनोयोग के साथ करता हूँ। सूर, कबीर जैसे मनीषियों के साहित्य को पढ़ाते समय मैं अपने विद्यार्थियों को वेद, पुराण, उपनिषद में उल्लेखित प्रसंगों की सम्यक जानकारी भी देता हूँ। मेरी माँ तथा पत्नी भगवान के अस्तित्व को स्वीकार करती हैं । आस्तिक-नास्तिक को लेकर एक प्रसंग का यहाँ उल्लेख करना चाहूँगा- बंगाल के दो महामानव रामकृष्ण परमहंस तथा ईश्वर चंद्र

विद्यासागर को लेकर हम गौरव करते हैं। चिकागो में भारतीय दर्शन तथा अध्यात्मवाद पर भाषण प्रस्तुत कर अमरीकियों के दिल जीतनेवाले स्वामी विवेकानंद के गुरु रामकृष्ण परमहंस ही थे । भगवान पर उनका अटल विश्वास था। दूसरी ओर ईश्वर चंद्र विद्यासागर एक महान समाज सुधारक तथा मानवतावादी थे, पर वे पूर्णरूपेण नास्तिक थे । एक दिन रामकृष्ण परमहंस विद्यासागर से मिलने उनके घर पहुँचे । रामकृष्ण परमहंस ने उन्हें यह समझाने का प्रयास किया कि उन्हें आध्यात्मवादी बनना चाहिए । परमात्मा उन्हें सुख और शांति प्रदान करेंगे- परंतु विद्यासागर ने भगवान के अस्तित्व को मानने से मना कर दिया । निराश होकर रामकृष्ण लौट गए, वैचारिक विभिन्नताओं के बावजूद दोनों के अंत एक जैसे रहे। दोनों के संपूर्ण जीवन संघर्षपूर्ण तथा पीड़ादायक रहे । विद्यासागर तो नास्तिक थे, पर भगवान (?) ने रामकृष्ण परमहंस को भी शांतिपूर्ण मृत्यु नहीं दी। अत: आस्तिक लोगों को भी नास्तिक के समान ही दु:ख और पीड़ा का सामना करना पड़ता है । उल्लेखनीय है कि विश्व का सबसे सुखी देश है क्रमश: फिनलैंड, डेनमार्क, नर्वे तथा सुइडेन । इन देशों के 95% से भी अधिक लोग निरीश्वरवादी हैं। मजेदार बात यह है कि अपराधियों के अभाव में उन नास्तिक देशों की पुलिस थानाएँ बंद करनी पड़ रही हैं, जबकि भगवान के इस देश में थानाएँ कम पड़ रही हैं।

डॉ. संजीव मण्डल : *असम में हिंदी के प्रचार में टी.वी. की भूमिका के बारे में क्या कहना चाहेंगे?*

डॉ. नारायण चंद्र तालुकदार असम तथा भारत के अन्य अहिंदीभाषी राज्यों में हिंदी के प्रचार व प्रसार में रेडिओ और टी.वी. की भूमिका अनस्वीकार्य है। जो काम सरकार अनेक सरकारी प्रयास के बाद भी नहीं कर पाती- टी.वी. या रेडिओ आसानी से यह काम कर सकता है। हिंदी को अब तक राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठा नहीं मिल पायी है, पर टी.वी. ने हिंदी को संपर्क भाषा के रूप में स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। अंग्रेजी के प्रति अत्यधिक मोह के कारण आज भी हिंदी को वांछित सम्मान प्राप्त नहीं हो पाया है। परंतु टी.वी. में दिखाए गए सीरियल्स, समाचार तथा अन्य मनोरंजक कार्यक्रम जैसे- 'कपिल शर्मा शो', 'इंडियन आइडल', 'कौन बनेगा करोड़पति', 'बिग बॉस' आदि ने हिंदी के प्रचार में महत्वपूर्ण भूमिकाएँ अदा की हैं। आज स्थिति यह है कि मेरे मित्र तथा विद्यार्थी फोन करके यह बताते हैं कि हमें हिंदी कार्यक्रम को सुनने-समझने में कोई असुविधा नहीं होती । आप केवल निम्न शब्दों के असमीया अर्थ बताने की कृपा करें -

जुनून, परवरिश, तहे दिल, संगदिल.....

डॉ. संजीव मण्डल : *आपके जीवन की किसी एक स्मरणीय घटना के बारे में बताइए।*

डॉ. नारायण चंद्र तालुकदार : स्मरणीय घटना के रूप में निम्नलिखित घटना का उल्लेख करना चाहूँगा-

उत्तराखण्ड के आधारशिला प्रकाशन तथा मॉरिशस के मोकास्थित अंतर्राष्ट्रीय महात्मा गांधी अध्ययन केंद्र के संयुक्त तत्वावधान में आयोजित 'विश्व हिंदी सम्मेलन' में एक प्रतिभागी के रूप में मैंने भाग लिया था । इस सम्मेलन का आयोजन 30/10/2012 के दिन महात्मा गांधी अध्ययन केंद्र

के सभागार में दिन के ग्यारह बजे होनेवाला था। केंद्र की ओर से घोषणा की गई थी कि ग्यारह बजे संगोष्ठी का उद्घाटन मॉरिशस के शिक्षामंत्री मुकेश्वर चुनी करेंगे। दिन के 10:30 बजे हम सभागृह पहुँच गए। मैं प्रथम पंक्ति में ही बैठ गया था। बगल का आसन खाली था। लगभग 10:50 बजे एक व्यक्ति आये और उसी कुरसी पर बैठ गए। मैंने उनकी ओर देखा, उन्होंने मुझे 'नमस्कार' कहा, मैंने भी प्रतिनमस्कार कहा। उन्होंने पूछा 'क्या आप हिंदुस्तान से आए हैं?' मैंने कहा 'जी हाँ'। 'आप हिंदुस्तान के किस प्रांत से है?' 'गुवाहाटी, असम', वे आश्चर्यचकित हो गए- 'गुवाहाटी से! मैंने कौतूहलवश जब उनका परिचय पूछा तो उन्होंने जवाब दिया 'मैं भी एक हिंदी प्रेमी हूँ।' इसी समय मंच से घोषणा की गई कि- 'मॉरिशस के शिक्षामंत्री महामहिम मुकेश्वर चुनी जी हमारे बीच उपस्थित हैं। मैं उन्हें मंच पर आने का आग्रह करता हूँ।' मैं यह देख आश्चर्यचकित हो गया कि मेरे बगल में बैठे हुए व्यक्ति, जो मेरे साथ वार्तालाप कर रहे थे वही मंच पर जाकर पूर्वनिर्धारित आसन पर बैठ गए। चुनी साहब की सादगी और सरलाता को देखकर मैं मुग्ध हो गया था। यह मेरे लिए स्मराणीय घटना ही थी।

इस तरह की अनेक स्मरणीय घटनाएँ मेरे जीवन में घटित हुई थीं।

डॉ. संजीव मण्डल : *अगर आपको नये सिरे से जीवन जीने का मौका मिले तो आप क्या करेंगे?*

डॉ. नारायण चंद्र तालुकदार : इस सवाल का मैं क्या जवाब दूँ!...समय गतिशील है, रुकना संभव नहीं है- जो 'बीत गया. सो बात गई'। अत: जीवन को दोबारा जीने की कल्पना हम नहीं करते। इतिहास मेरा प्रिय विषय रहा है। इतिहास का मैं अध्ययन करता हूँ- इतिहास का मूल्यांकन हम आज के संदर्भ में करते हैं। इसीलिए इतिहास अथवा जीवन को दोबारा जीने का सपना नहीं देखा करते।

डॉ. संजीव मण्डल : *आपने अज्ञेय के कथा-साहित्य में मृत्युबोध विषय पर पीएच.डी. की है। आमतौर पर इंसान मृत्यु से डरता है और जीवन को चाहता है। इसलिए कह सकते हैं कि मृत्युबोध पर पीएच.डी. करना एक अनोखी बात है। अपने किन कारणों से मृत्युबोध पर पीएच.डी. करने का फैसला लिया?*

डॉ. नारायण चंद्र तालुकदार : मृत्यु मेरे लिए बचपन से ही भयंकर पर प्रिय विषय रहा है। बरमा के जिस गाँव में मेरा जन्म हुआ था वहाँ कई बूढ़े तथा बुजुर्ग व्यक्ति थे। उन बुजुर्गों की मृत्यु एक-एक करके हो रही थी- इन मृत्युओं को मैंने नजदीक से देखा था। यह सोचकर मैं घबरा जाता था कि एक दिन मेरे माता-पिता की भी मौत होगी। मैं कैसे सहन कर पाऊँगा? यही कारण है कि बचपन में जब मैं अपने दोस्तों के साथ खेलने लगता तब भी हठात् अन्यमनस्क हो जाता।

परवर्ती काल अर्थात् सन् 1975 में जब मैं बी.ए. कक्षा का छात्र था तब पाठ्यक्रम के अंतर्गत अज्ञेय का प्रख्यात उपन्यास 'अपने अपने अजनबी' पढ़ने का मौका मिला। इस उपन्यास ने मुझे विशेष रूप से प्रभावित किया। इस उपन्यास में 'योके' और 'सेल्मा' नामक दो नारी-चरित्रों के माध्यम से कलापरक तथा धर्मपरक अस्तित्ववादी चिंतन का प्रतिफलन देखने को मिलता है। कलापरक

(नास्तिक) अस्तित्ववाद से मैं बहुत प्रभावित हुआ। आगे जाकर अज्ञेय के अन्य उपन्यास, कहानी, आलोचना, कविता आदि के अध्ययन के बाद मैंने पाया कि अज्ञेय की समग्र रचना में मृत्यु चिंतन की प्रमुखता है। ऐसे तो समस्त मानव जाति पर मृत्यु का प्रभाव है। मृत्यु से बचने तथा दूर भागने के लिए ही तो मनुष्य घर बनाता है, विवाह करता है, बीमार होने पर डॉक्टर के पास जाता है, साहित्यकार, कवि, नेता बनता है, ताकि मृत्यु के बाद 'पुत' नामक नरक से उसकी रक्षा पुत्र करें। मनुष्य का हर कार्य मृत्यु को दूर भगाने के लिए ही होता है। ऐसी स्थिति में मृत्यु को शोध का विषय बनाने में आश्चर्य की क्या बात है? मृत्यु के बारे में सोच विचार कर मृत्यु को सहज रूप में अपनाने का प्रयास ही तो मनुष्य को करना है। अज्ञेय शायद मृत्यु को सहज रूप में लेने तथा अपनाने में अपने जीवन के अंतिम समय में सफलता प्राप्त कर चुके थे। निम्नलिखित कविता की पंक्ति को देखिए जहाँ अज्ञेय मृत्यु को सहज रूप में अपनाने को तत्पर है-

तीर्थाटन को निकला हूँ/ कांधे बाँधे हूँ लकड़ियाँ चिता की
गाता जाता हूँ। (कितनी नावों में कितनी बार)

अज्ञेय की भाषा में ही मैं भी कहना चाहता हूँ- 'मैं मृत्यु का गीत नहीं गाता। मृत्यु है, इसीलिए गाता हूँ।'

डॉ. संजीव मण्डल : *पूर्वोत्तर को लेकर हिंदी में जितने भी साहित्य लिखे गये हैं और लिखे जा रहे हैं उनमें अज्ञेय का पूर्वोत्तर केंद्रित साहित्य विशेष स्थान रखता है। अज्ञेय के पूर्वोत्तर केंद्रित साहित्य पर अपने विचार हमें बताइए।*

डॉ. नारायण चंद्र तालुकदार : उत्तर-पूर्वांचल का उल्लेख हिंदी के कई साहित्यकारों की रचनाओं में मिल जाता है। पर अज्ञेय के साहित्य में उत्तर-पूर्वांचल के प्रति जो श्रद्धा और प्रेम दिखलाई पड़ता है वह कहीं नहीं मिलता। अज्ञेय सही अर्थ में यायावर थे- वे जहाँ भी जाते थे- वहाँ की संस्कृति, इतिहास तथा समाज व्यवस्था का सम्यक अध्ययन करते थे- यही कारण है वे सबके प्रति न्याय कर सकें। अज्ञेय की यात्रा तथा कहानी में असम तथा उत्तर-पूर्वांचल का जीता जागता चित्रण उपलब्ध है। 'अरे यायावर रहेगा याद?' शीर्षक यात्रा साहित्य में परशुराम कुंड से तत्कालीन भारत के पश्चिम की आखिरी सीमा तक की यात्रा का वर्णन है। इस यात्रा वर्णन में असम और अरुणाचल (नेफा) के प्रति उनका आकर्षण तथा जिज्ञासा का भाव प्रभावित करता है। इसके साथ माजुली, सोनारी, जोरहाट आदि के प्रभावशाली वर्णन उन्होंने किया है। अज्ञेय ने अपने जीवनकाल में 77 कहानियाँ लिखी थीं, जिनमें पाँच कहानियाँ उत्तर-पूर्वांचल की पटभूमि पर रचित हैं, जो इस प्रकार हैं- जयदोल, हीली-बोन् की बत्तखें, नीली हँसी, नागा पर्वत की एक घटना तथा मेजर चौधरी की वापसी। इनमें से 'हीली-बोन् की बत्तखें अज्ञेय की पाँच सर्वश्रेष्ठ मनोवैज्ञानिक कहानियों में से एक मानी जाती है। 'जयदोल' में सोलहवीं सदी के असम की राजनीतिक, सामाजिक, अर्थनैतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का सटीक और सजीव वर्णन किया है। असम के समाज तथा इतिहास का इतना सटीक

वर्णन किसी अन्य हिंदी-भाषी साहित्यकार ने नहीं किया है। अज्ञेय की प्रख्यात कविता 'दुर्वाचल' तथा 'कितनी शांति! कितनी शांति' की रचना मेघालय के 'एलिफेंटा' नामक जलप्रपात के पास स्थित शिलाखाण्ड में बैठकर ही तो की गई थी।

डॉ. संजीव मण्डल : *असम में हिंदी की दिशा और दशा पर दो शब्द कहे।*

डॉ. नारायण चंद्र तालुकदार : यह साबित हो चुका है कि अंग्रेजी के प्रति अत्यधिक मोह के कारण हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं का वांछित विकास हो नहीं पाया है । राजभाषा के रूप में हिंदी को सांविधानिक स्वीकृति मिली, सरकारी तौर पर हिंदी को राजभाषा के पद पर आसीन करने का प्रयास भी हुआ, पर कोई लाभ नहीं हुआ। सरकारी काम काज में हिंदी का प्रयोग करने से सभी कतराते थे- सरकारी अफसर भी तथा लोग भी । हाँ संपर्कभाषा के रूप में हिंदी को पूरे देश में अभूतपूर्व सफलता मिल चुकी है । इसका कारण सरकारी प्रयास नहीं बल्कि सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक आवश्यकता ही है। मेरी दृष्टि में हिंदी शिक्षक और अधिकारियों का इसमें कोई विशेष योगदान नहीं है।

डॉ. संजीव मण्डल : *आपकी युवावस्था के दिनों की हिंदी और अबकी हिंदी में आप क्या अंतर देखते हैं?*

डॉ. नारायण चंद्र तालुकदार : हमारे समय हिंदी की स्थिति आज से भिन्न थी । पाठ्य-पुस्तकें आसानी से मिलती नहीं थीं। कुछ लोग हिंदी को रिक्सेवाले तथा ठेलेवाले की भाषा समझते थे । श्रमजीवी लोगों के प्रति स्थानीय लोगों की धारणाएँ अच्छी नहीं थी । आज भी स्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। इस प्रश्न का उत्तर दे दे कर हम थक गए थे कि 'हिंदी में आनर्स क्यों लिया- कोई अन्य विषय नहीं मिला क्या?' पाठ्य-पुस्तकों की बात करें तो एक ही दुकान थी- 'अखबार घर'। पर वहाँ भी नोट्स की किताबें ही मिलती थीं, पाठ्य-पुस्तक न के बराबर। हाँ- जिला तथा कॉलेज लाइब्रेरी में किताबें मिलती थीं, पर किसी काम की नहीं थी। क्योंकि मान लीजिए मुझे 'कबीर की भक्तिभावना' पर एक आलोचना की आवश्यकता है । पुस्तकालय जाकर जब किसी पुस्तक की सूची में निबंध अथवा आलोचना का उल्लेख मिलता है तो थोड़ी उत्तेजना का अनुभव करता हूँ, पर खोलकर देखने पर जरूरी पन्ने गायब मिलते हैं । यही स्थिति जिला पुस्तकालय की पुस्तकों की थी।

यह समस्या आज नहीं है । पुस्तकों का अभाव आज नहीं है। अधिकांश विद्यार्थी गूगल सर्स कर सब कुछ प्राप्त कर सकते हैं। समय समय पर संगोष्ठी, विशेष भाषाण आदि का आयोजन किया जाता है, जिससे विद्यार्थी लाभ उठा सकते हैं। आज के विद्यार्थी सपने भी हिंदी में देख सकते हैं। अब सवाल यह भी है कि अधिक सुविधा प्राप्त करने वाले आज की पीढ़ी अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी से गुणगत दृष्टि से भिन्न है कि नहीं। पिछले 15/20 सालों से गौहाटी विश्वविद्यालय के विषय विशेषज्ञ के रूप में कॉलेज शिक्षक पद के लिए आयोजित इंटरव्यु में नई पीढ़ी को परखने का मौका मिलता रहा है । पर अधिकांश प्रतिभागियों का गुणगत मान संतोषजनक नहीं कहा जा सकता । हाँ, हिंदी का उच्चारण पहले की अपेक्षा बेहतर था।

डॉ. संजीव मण्डल : *आपके दिल्ली विश्वविद्यालय में अध्ययन के दिनों में आपको बहुत से प्रसिद्ध हिंदी साहित्यकारों से भी पढ़ने का मौका मिला था। उस संबंध में आपके अनुभव हमें बताइए।*

डॉ. नारायण चंद्र तालुकदार : सन् 1977 से 1979 तक मैं दिल्ली विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर श्रेणी में अध्ययन कर रहा था। मैं रामजस कॉलेज का छात्र था। कक्षाएँ दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में आयोजित की गई थीं। उस समय हमें हिंदी के प्रतिष्ठित अध्यापक तथा साहित्यकारों से शिक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। तुलसी साहित्य के मर्मज्ञ प्रो. उदयभानु सिंह दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष थे। इनके अलावा रामलाल शर्मा, डॉ. भोलानाथ तिवारी जैसे विद्वान हमारे गुरु थे। हिंदी के प्रख्यात साहित्यकारों को विभाग की ओर से समय समय पर विद्यार्थियों के साथ विचारों के आदान-प्रदान के लिए आमंत्रित किया जाता था। विभाग के नोटिस बोर्ड पर अतिथियों के नाम तथा निर्धारित समय का उल्लेख किया जाता था। उदाहरण के लिए 'शेखर: एक जीवनी' पर बोलने के लिए अज्ञेय, काव्यशास्त्र के लिए डॉ. नगेंद्र, 'अशोक के फूल' के लिए हजारी प्रसाद द्विवेदी, आलोचना के लिए नामवर सिंह (JNU) तथा गोविंद त्रिगुणायत का उल्लेख किया जा सकता है। विद्यार्थी अनेक जिज्ञासा और आग्रह के साथ उनको सुनने के लिए पहुँच जाते थे। उल्लेखनीय है कि कॉटन कॉलेज में भी हमें गुरु के रूप में कवि नवकांत बरुवा, उदयादित्य भराली, कृपेश चंद्र पॉल, दिलीप कुमार बरुवा जैसे प्रख्यात शिक्षकों से ज्ञान प्राप्त करने का अवसर मिला था। पाठदान करते समय ये सब बातें मैं अपने विद्यार्थियों को बताया करता था।

आज स्थिति बदल गई है। पिछले दस सालों में मैंने कई बार दिल्ली की यात्राएँ की हैं। हर बार दिल्ली विश्वविद्यालय के अंतर्गत आनेवाले कॉलेजों के हिंदी विभाग के अध्यापकों से मिलने का प्रयास भी करता रहा। पर अधिकांश अध्यापकों ने बताया कि हिंदी का माहौल बहुत अच्छा नहीं कहा जा सकता। अधिकांश विद्यार्थी आधुनिक तथा उपयोगी विषय की ओर आकर्षित हो रहे हैं। हिंदी को प्रमुख विषय के रूप में अपनाने में हिंदी भाषी विद्यार्थी ही संकोच का अनुभव करते हैं।

डॉ. संजीव मण्डल : *आप एक कथाकार हैं। मुख्य रूप से आप असमीया में कहानियाँ लिखते हैं। आपकी कहानियों के पाठकों को आपकी कहानियाँ बहुत प्रिय हैं। हम चाहेंगे कि आप अपनी कहानियों के बारे में विस्तार से बताए।*

डॉ. नारायण चंद्र तालुकदार : मैंने असमीया तथा हिंदी में कुछ कहानियाँ लिखी हैं। असमीया में 30 के आसपास और हिंदी में 10 के आसपास कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। अधिकांश कहानियाँ मैंने एकाधिक संपादक तथा अपने दोस्तों के आग्रह पर लिखी हैं। मेरी पहली कहानी 'परिवर्तन' सन् 1970 में बरमा हाईस्कूल की वार्षिक पत्रिका 'निजरा' में छपी थी। पर मेरे साहित्यिक जीवन की शुरूआत कविता से हुई थी। सन् 1971 में बांग्लादेश के जन्म से उल्लसित होकर 'बांग्लादेश' नामक कविता लिखी थी। 'बरमा शाखा साहित्य सभा' में कविता पाठ के लिए मुझे दो-तीन बार निमंत्रित भी किया गया था।

मेरी कहानियों की विषयवस्तु मेरे/ हमारे परिचित समाज में घटित घटनाएँ ही हैं। कहानियों के अधिकांश पात्र श्रमजीवी हैं- किसान, चायवाला, भिक्षुक, चतुर्थ-वर्ग के कर्मचारी, ग्रामीण महिला, ऑटोवाला, बसयात्री, अकेला बुजुर्ग आदि। मृत्यु ने भी मेरी कहानियों में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। उदाहरण के लिए अपने पिता की करुण मृत्यु तथा एक व्यक्तिगत नर्सिंगहोम पर सीरियस हालत में बिताए मेरे कई दिनों के अनुभव को आधार बनाकर क्रमश: 'मृत्यु' तथा 'जीवन आरु मृत्युर दोमोजात' शीर्षक कहानियाँ लिखी थी। कॉटन कॉलेज के हिंदी विभाग से सटे एक पेड़ पर रहनेवाला अकेला बूढ़ा कौवा के करुण जीवन को मैंने नजदीक से देखा था। उसे मांस, मछली, विस्किट आदि भी खिलाया करता था। लेकिन एक दिन विभाग पहुँचने पर पता चला कि वह पेड़ के नीचे मरा पड़ा है। आम आदमी की दृष्टि में उस घृणित (?) तथा कुत्सित (?) प्राणी की मृत्यु ने मुझे झकझोर दिया था। उस कौवे की मृत्यु ने मुझे 'एटा काउरीर मृत्युत' नामक एक कहानी लिखने के लिए प्रेरित किया था। उस कहानी की लोकप्रियता को देख मैंने उसी कहानी को 'एक कौवे की मौत' के नाम से 'पूर्वोदय' नामक हिंदी पत्रिका में प्रकाशित कराया था।

इस समय केवल एक दो कहानियाँ ही लिख पाते हैं। मेरी कहानियों के पाठक यह आरोप अवश्य लगाते हैं कि मेरी कहानियों में प्रेम तथा रोमांस का नितांत अभाव है।

डॉ. संजीव मण्डल : *आपके परिचित जानते हैं कि आपने छात्र जीवन में एक उपन्यास लिखा था। वह असमीया में लिखा गया आँचलिक उपन्यास होता। हमें खेद हैं कि वह अब तक प्रकाशित नहीं हो पाया। हम सभी चाहेंगे कि वह आप प्रकाशित करें। तब तक हमारी उत्सुकता को शांत करने के लिए आप उस उपन्यास की कथावस्तु के बारे में हमें बताइए।*

डॉ. नारायण चंद्र तालुकदार : हाँ, यह बात सही है कि युवावस्था में मैंने एक उपन्यास लिखा था। पर सच कहूँ तो यह उपन्यास लिखना मेरी मजबूरी थी। सन् 1977 में मैंने दिल्ली विश्वविद्यालय में एडमिशन लेने का निर्णय लिया। घर की आर्थिक स्थिति कमजोर थी। पिताजी रिटायर हो चुके थे, भैया बेकार थे। मैंने फिर भी माँ को मना ही लिया। पर उन्होंने यह भी कह दिया कि तुझे महीने में केवल पाँच सौ रुपए ही दे पाऊँगी। मैं मान गया। अगले ही दिन से मैं दिल्ली विश्वविद्यालय के रजिस्टर ऑफिस से पत्र व्यवहार करने लग गया। दो-तीन बार के आदान-प्रदान के बाद रजिस्टर ऑफिस से एक पोस्टकार्ड मिला- 'यदि आप दिल्ली विश्वविद्यालय में भर्ती होना चाहते हैं तो आप को मई अंत तक दिल्ली पहुँच जाना चाहिए'। मैंने वैसे ही किया। शायद मई महीने के 30 तारीख को मैं दिल्ली पहुँच ही गया। मेरा साथ देने के लिए कोई नहीं था। दिल्ली स्थित असम भवन के डोर्मिटरी में दो दिन बिताने के बाद मैं रजिस्टर ऑफिस पहुँच गया। पर रजिस्टर के व्यक्तिगत सचिव ने कहा कि पंजीकरण नाम भर्तीकरण आदि जुलाई 2 तारीख से शुरू होगा। अब कुछ नहीं हो पायेगा।

रजिस्टर के सचिव की बात सुनकर मैं सोच में पड़ा गया। पैंतीस रुपए खर्च कर गुवाहाटी लौटने का सामार्थ्य मुझमें नहीं था। दूसरी समस्या यह थी कि एडमिशन लिए बिना किस मुँह से घर पहुँचूँगा! अत: एक महीना किसी प्रकार दिल्ली में

ही बिताने का निर्णय लिया । दिल्ली के होटल अशोक के पास स्थित एक मद्रासी सज्जन के घर महीने 300/- में P.G. के रूप में रहने का इंतेजाम भी हो गया । एन.टी. चिंतामणि नामक वह मद्रासी सज्जन परवर्ती काल में लिखित मेरी एक कहानी में नामक के रूप में अवतरित भी हुआ था ।

जून महीने की भयंकर गर्मी में अनजान-अपरिचित दिल्ली में समय बीतता मेरे लिए असंभव सा हो गया था । दस/ग्यारह रोज किसी प्रकार गुजारने के बाद एक दिन सरोजिनी नगर मार्केट जाकर मैंने निर्णय लिया कि अपने गाँव की सामग्रिक कथा को लेकर एक लंबी कहानी लिखूँगा। इस प्रकार सन् 1977 के जून महीने के 12 या 13 तारीख से लेकर 30 तारीख तक मैं लगातार लिखता गया- किसी दिन अगर दस पेज तो किसी दिन कम से कम एक पेज । यही उपन्यास की जन्म कथा है । मैंने उपन्यास को आँचलिक माना है- नाम रखा गया था- 'जीवन नदीर इपार सिपार'। परवर्ती काल में मैंने इस उपन्यास को पढ़ने के लिए प्रो. फणीधर तालुकदार को दिया था । कॉटन कॉलेज के हिंदी विभाग में नौकरी प्राप्त करने के बाद मैंने इसे उसी कॉलेज के असमीया विभाग के अध्यापक तथा विशिष्ट आलोचक स्व. हेमंत कुमार शर्मा को दिखाया था । दोनों ही अध्यापकों ने उपन्यास की प्रशंसा कर उसे प्रकाशित करने का आग्रह किया था । पर किन्हीं कारणों से यह संभव न हो सका । एक कारण लेखक नारायण तालुकदार पर आलोचक नारायण तालुकदार का हाबी होना भी कहा जा सकता है । जो भी हो, उपन्यास की मूल कथा के साथ असंख्य सहायक कथाएँ भी हैं- जो उपन्यास में उल्लेखित अंचल की राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का उजागर करती हैं । इन उपकथाओं को लेकर मैंने कम से कम एक दर्जन कहानियाँ लिखी हैं । ये कहानियाँ विभिन्न पत्रिका तथा समाचार पत्र में प्रकाशित भी हो चुकी हैं । इस दृष्टि से अगर देखा जाय तो उपन्यास का प्रकाशन किसी न किसी रूप में अवश्य हो चुका है ।

डॉ. संजीव मण्डल : *आप कई इंटरनेशनल कांफ्रेंसों में गए हैं । वहाँ आपको उन देशों में हिंदी की स्थिति के संबंध में प्रत्यक्ष अनुभव हुए होंगे । उस बारे में हमें बताइए ।*

डॉ. नारायण चंद्र तालुकदार : मैंने सिर्फ दो अंतर्राष्ट्रीय सेमिनारों में भाग लिया था । पहली बार 2012 के 28 अक्टूबर से 3 नवंबर तक मॉरिशस में तथा दूसरी बार सन् 2013 के 26 जून से 6 जुलाई तक हंजरी में आयोजित संगोष्ठी में । इन संगोष्ठियों का आयोजन उत्तराखण्ड के हल्दवानी स्थित 'आधारशिला प्रकाशन' ने उन देशों में स्थित भारतीय दुतावास तथा उत्तराखण्ड सरकार के सहयोग से किया था । संगोष्ठी में प्रस्तुत करने के लिए मैंने जो शोध प्रबंध प्रस्तुत किया था उसे कमेटी की स्वीकृति मिल चुकी थी । संगोष्ठी में भाग लेने के साथ-साथ उन देशों की कला, संस्कृति, साहित्य तथा समाज को नजदीक से देखने का सौभाग्य हमें प्राप्त होनेवाला था । मॉरिशस के मोका स्थित 'महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान' के सभागृह में मैंने पाया कि संगोष्ठी में भले ही भारत के विभिन्न प्रदेशों के हिंदी अध्यापकों ने भाग लिया था पर अपने देश में आयोजित संगोष्ठियों में जो दृश्य अक्सर देखा जाता है वहाँ भी

उससे अलग कुछ देखने को नहीं मिला । सारे विद्वान अपने-अपने पत्र पाठ कर बाहर निकल जाते थे- किसी अन्य के भाषण सुनने के मुड में कोई नहीं थे। महिला प्रतिभागी तो केवल 'शॉपिंग मॉल' जाने को आतुर दिखलाई पड़ती थी। मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा था क्योंकि संगोष्ठी में मॉरिशस के शिक्षामंत्री तथा अन्य विद्वजन भी उपस्थित थे । भारतीय विद्वानों के कर्मकांड को देख रहे थे । हमारे दल के एक अध्यापक के शोधपत्र का शीर्षक था- विश्व में हिंदी' । वे बड़े उत्साह के साथ कह रहे थे कि विश्व में हिंदी का भविष्य बड़ा ही उज्ज्वल है- आज फिजि, मॉरिशस, सुरिनाम, गायेना जैसे देशों के अलावा विश्व के अनेक देशों के विश्वविद्यालयों में हिंदी पढ़ायी जा रही है । उस विद्वान के बाद मेरी बारी आयी । मेरा विषय था- 'असम में हिंदी' । अपने वक्तव्य को संक्षिप्त रूप में मैंने प्रस्तुत किया । फिर सदन की अनुमति लेकर मैंने पूर्ववर्ती विद्वान का विरोध करते हुए कहा कि- हिंदी को लेकर हमें बहुत उत्साहित होने की आवश्यकता नहीं हैं, क्योंकि हिंदी की स्थिति भारत में ही संतोषजनक नहीं कहा जा सकता । अंग्रेजी के प्रति अत्यधिक मोह तथा वैश्वीकरण के कारण हिंदी राजभाषा पद पर आसीन नहीं हो सका है । दरअसल में भारत की राजभाषा अंग्रेजी ही है । फिजि, मॉरिशस, सुरिनाम आदि में अगर हिंदी का विकास हुआ है तो इसके पीछे वहाँ अंग्रेजों द्वारा 18 वी. सदी में भारत के बिहार, उत्तरप्रदेश, बंगाल, ओडिशा तथा दक्षिण भारत से लाए गए बंधुवा मजदूरों का हाथ है- जो भारत त्याग करने से पहले 'रामचरितमानस' तथा अपनी भाषा और कला-संस्कृति को लेकर उन देशों में बसने के लिए गए थे । हमारे जैसे प्रमोशन आकांक्षी स्वार्थी अध्यापकों का इसमें कोई योगदान या महत्त्व नहीं है । हाँ, मॉरिशस में मधुर अनुभव भी हुआ है । भोजपुरी भाषी (जिनके पूर्वपुरुष मूलत: बिहार तथा पूर्वी उत्तरप्रदेश के थे) लोगों से वैचारिक आदान-प्रदान का मौका मिला- विशेषकर महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन केंद्र, मोका के सदस्यगण, विभिन्न स्कूलों में हिंदी पढ़ानेवाले शिक्षकों तथा स्वेच्छासेवियों से मिलकर हम बड़े आह्लादित हुए । निस्वार्थ रूप से हिंदी की सेवा में रत उन महानुभवों को देख बार-बार मुझे मुक्तिबोध की निम्नलिखित पंक्तियाँ याद आ रही थी-

शरीर की मिट्टी से, धूल से/ खिलेंगे गुलाबी फूल/ सही है कि हम पहचाने नहीं जायेंगे/ दुनिया में ना कमाने के लिए/ कभी कोई फूल नहीं खिलता है । मॉरिशस के हिंदी के सर्वश्रेष्ठ विद्वान अभिमन्यु अनत, रामदेव धुरंधर, इंद्रदेव भोला 'इंद्रदेव' आदि से भी वार्तालाप करने का मौका हमें मिला । उन विद्वानों ने हमें पुस्तकें भेंट कीं । कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि विपरीत परिस्थितियों में भी मॉरिशस के हिंदीभाषी लेखक अपने अस्तित्व को सशक्त रूप में बनाए रखने में सफल हुए हैं ।

मॉरिशस के भोजपुरी भाषी लोगों के गीतों में अपनी जन्मभूमि से अलग होने का दर्द स्पष्ट रूप से झलकता है - जिनकी तुलना शायद असम के चाय बागान के श्रमजीवियों के गीतों के साथ की जा सकती है। मॉरिशस के युवा कवि तथा साहित्यकार पूजानंद नेमा से लोकगीतों की कुछ पंक्तियाँ मैंने प्राप्त की थीं जिनमें शासकों (अंग्रेजों)

के अत्याचारों की गाथाएँ मिलती हैं - कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं -

गोरवा के हथवा में चीने के चबुकवा हो, अपन आदमियाँ गरीब/ मुलवा के संगवा महलियाँ लंबाकवा हो, आपन का झोपड़ी नसीब/गोरवा त पहिने रेमवा लतोफवा हो, आपन त चिथड़ा नसीब।

एक अन्य उदाहरण-

दरि दरि कान पलाँते मिराय के मकई/ काफिर साला बोलत बाटे जल्दी से तरवई/ जरि गइले हो मुझे मानेस से मुलवा।

मॉरिशस के जनजीवन तथा दर्द को उपजीव्य बनाकर मैंने दो कहानियाँ भी लिखी थीं, जो प्रकाशित हो चुकी हैं। इसके अलावा मॉरिशस के हिंदी साहित्य को लेकर 'राष्ट्रसेवक' में भी मेरे दो निबंध प्रकाशित हो चुके हैं। मेरी दृष्टि में मॉरिशस के 'रामचंद्र शुक्ल' रामदेव धुरंधर तथा अन्य साहित्यकारों को भारतीय विश्वविद्यालय के हिंदी पाठ्यक्रम में स्थान अवश्य मिलना चाहिए।

सन् 2013 के 26 जून से 6 जुलाई तक उसी संस्था द्वारा हंगरी में आयोजित 'अंतर्राष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन' में भाग लेने पहुँचे। भारतीय अध्यापक तथा संवाददाता दल के सदस्य के रूप में मैं भी हंगरी की राजधानी बुदापेस्त पहुँचा। 28 जून के दिन के 10 बजे हंगरी स्थित भारतीय दुतावास के हॉल में संगोष्ठी का शुभारंभ हुआ। संगोष्ठी का विषय- 'भारतीय भक्ति साहित्य' था। मेरा विषय था- 'भारतीय भक्ति साहित्य तथा श्री श्री शंकरदेव'। भारतीय राष्ट्रदूत गौरीशंकर गुप्ता ने संगोष्ठी का उदघाटन करते समय स्वरचित काव्यपाठ भी किया।

हंगरी में हिंदी की स्थिति मुझे विशेष संतोषजनक नहीं लगी। हाँ, 'गोदान', 'गीतांजलि', 'चंद्रगुप्त', 'देवदास' जैसे कालजयी साहित्य का हंगरी में अनुवाद होने की जानकारी मिली। वहाँ के विश्वविद्यालय में भी हिंदी शिक्षा की व्यवस्था है। दो दिन हंगरी में रहकर दर्शनीय स्थलों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। हंगरी के संबंध में मुझे पढ़ने को मिला था कि 'बालाटोन' नामक झील राजधानी बुदापेस्त से 120 कि.मि. की दूरी पर दक्षिण में स्थित है। सन् 1926 में रवींद्रनाथ ठाकुर अपने हृदय-रोग का इलाज कराने बालाटोनफट पहुँचे, जहाँ दुनिया का सर्वश्रेष्ठ कार्डियक अस्पताल है। एक दिन (08/11/1926) रवींद्रनाथ ठाकुर बालाटोन झील के पास पहुँचे। उन्होंने वहाँ एक पेड़ लगाया, एक कविता भी लिखी- जो आज भी पत्थर पर खोदित है- 'मैं जब इस दुनिया में नहीं रहूँगा/ तब मेरा यह वृक्ष/ आपके वसंत को नव-पल्लव देगा/ और अपने रास्ते जाते सैलानियों से कहेगा/ कि एक कवि ने इस धरती से प्यार किया था'।

वह स्थल आज भी पर्यटकों के आकर्षण का केंद्र है। पर अफसोस की बात है कि हमारे कार्यक्रम में बालाटोन का उल्लेख नहीं था। आज भी बालाटोन झील तथा रवींद्रनाथ का वह शिलालेख मेरी कल्पना में साकार रूप धारण कर सपने में दिखलाई पड़ता है। काश, बालाटोन झील के पास

जाकर उस शिलालेख को अपनी आँखों से देखने का अवसर प्राप्त होता।

हंगरी से हम आष्ट्रिया की राजधानी वियेना पहुँचे। वियेना फ्रायड की कर्मभूमि है। वियेना में सबसे आकर्षक वहाँ का म्युजियम है। जिनकी संख्या आधा दर्जन हैं। आष्ट्रिया में एक दिन बिताने के बाद हम फिर बस से चेक रिपब्लिक की राजधानी प्राग पहुँचे। वहाँ के ऐतिहासिक स्थल देखने लायक हैं। गाइड ने हमें चेक के इतिहास तथा संस्कृति की जानकरी दी। फिर हम प्राग स्थित विश्व प्रसिद्ध 'प्राग कैसल' देखने पहुँचे, जो बेहद खुबसूरत है। पर भिखारियों की संख्या देख हम आश्चर्यचकित हुए। पैदल चलनेवाले टुरिस्टों के पैर पकड़कर भिखारी तथा उसका कुत्ता पैसे माँगते हैं। एक भी भिखारी ऐसा नहीं जिसके पास कुत्ता नहीं है। भूपेन हाजरिका के गीत की निम्नलिखित पंक्तियाँ उस समय याद आ रही थी-

मइ देखिछो कतना गगनचुंबी अट्टालिकार शारी/ तार छाते देखिछो कतना गृहहीन नर-नारी।

इस प्रकार तीन पूर्वी योरोपीय देशों की यात्रा तथा वहाँ की राजनैतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों की जानकारी हमारे लिए विशेष ज्ञानवर्धक रही।

डॉ. संजीव मण्डल : *आप विद्यार्थियों को कोई संदेश देना चाहेंगे?*

डॉ. नारायण चंद्र तालुकदार : अपने जीवन के लगभग 40 साल मैंने विद्यार्थियों के साथ बिताया। विद्यार्थियों के साथ बिताए क्षण मेरे लिए विशेष रूप से स्मरणीय रहेगा। मुझे उनसे विशेष सम्मान भी मिला है, उनसे मैंने बहुत कुछ सीखा भी। व्यक्तिगत रूप से मैं एक नंबर का आलसी हूँ, पर विद्यार्थीरूपी मित्रों से मैं यही कहना चाहूँगा- (क) आलस का परित्याग करना (ख) जिज्ञासा भाव को बनाए रखना (ग) गहन अध्ययन करना एवं (घ) कम बोलना- ज्यादा सुनना- क्योंकि व्यक्ति के पास एक ही मुँह होता है, पर कान दो होते हैं।

संपर्क-सूत्र:
डॉ. संजीव मंडल
अतिथि प्राध्यापक
संदिकै बालिका महाविद्यालय
गुवाहाटी